इकाई 3 भारत में जाति और वर्ग

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य

सामाजिक स्तरीकरण की प्रक्रिया को पूरी तरह से समझने के लिए जाति और वर्ग दोनों बेहद जरूरी हैं। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- जाति मॉडल की बुनियादी विशेषताओं को समझ जाएंगे और फिर यह समझा सकेंगे कि सामाजिक स्तरीकरण में वर्ग किस तरह भूमिका अदा करता है;
- यह जान जाएंगे कि जाति और वर्ग किस तरह गठजोड़ बनाकर असमानताओं को प्रबलता प्रदान करते हैं;
- यह बता पाएंगे कि समाज में जाति कुछ निश्चित कार्यों के निर्वाह में एक बुनियादी इकाई के रूप में किस तरह काम करती है;
- भारतीय समाज जाति स्तरीकरण किस तरह से 'वर्ग संघर्ष' या 'सर्वहारा चेतना' को कुंद करती है, और;
- जाति सामाजिक गतिशीलता और वर्ग संबंधों को किस तरह प्रभावित करती है, यह समझ सकेंगे।

3.1 प्रस्तावना

इस इकाई में जाति के विश्लेषण में उठने वाले कई कठिनाइयों को समझने का प्रयास किया गया है। असल में इस विषय पर जो भी साहित्य उपलब्ध है वह इन कठिनाइयों को सुलझाने के बजाए और संदेह, शंकाएं उत्पन्न करता है। जहां इसमें वर्ण और जाति में स्पष्ट भेद नहीं मिलता, वहीं विश्लेषण के एक पहलू पर दूसरे पहलू की एवज में अलग-अलग किस्म के परिप्रेक्ष्य उभरते हैं। आनुमानिक सिद्धांतों की औपनिवेशिक नृजातिकारों (जातीयताओं का अध्ययन करने वाले विद्वानों) के लेखन में कमी नहीं है जिन्हें प्रमाणों की पुष्टि के लिए आज भी प्रयोग किया जाता है। अनेक अध्ययनकर्ताओं ने भारतीय

समाज में मौजूदा स्थितियों की गति को अनदेखी करके उसे एक 'जाति समाज' के रूप में प्रचारित किया है। इस जाति को वर्ग व्यवस्था का तार्किक विलोम माना गया, जो व्यक्तिवाद और विशेषकर पश्चिम से जुड़ा है।

3.2 जाति-मॉडल की मूलभूत विशेषताएं

आंद्रे बेटीली ने भारतीय समाज के जाति-मॉडल के इस परिप्रेक्ष्य की बुनियादी विशेषताओं की रूपरेखा एक विश्लेषण योजना के रूप में इसकी उपयोगिता की परख करते हुए तैयार की है। इस 'जाति-मॉडल' की विशेषताएं इस प्रकार हैं:

i) यह मॉडल लोगों के कुछ विशेष वर्गों द्वारा माने और व्यक्त किए जाने वाले विचारों पर आधारित है। यह उनके आचरण पर आधारित नहीं है, हालांकि इसके अध्ययन के लिए द्वितीयक अनुभवजन्य सामग्री भी प्रयोग की गई है।

ii) यह भारत में जाति को एक तरह से पहला और सार्वभौमिक महत्व देता है जैसा कि शास्त्रों में इसकी धारणा दी गई है।

iii) इस पूरी व्यवस्था को इस रूप में देखा जाता है कि यह कमोबेश स्पष्टत: रचित निश्चित सिद्धांत या "खेल के नियमों" से संचालित है।

iv) आंद्रे बेटीली इस मॉडल से उत्पन्न होने वाले दो जोखिमों की ओर भी इशारा करते हैं। इसमें सबसे पहला खतरा तो यह है कि यह सिद्धांत इतना सामान्य है कि यह किसी भी समाज के लिए प्रयुक्त हो सकता है। दूसरा खतरा यह है कि यह आर्थिक और राजनीतिक जीवन की बारीकियों को लेकर नहीं चलता।

बॉक्स 3.01

बेटीली कहते हैं कि यह मॉडल, जो कि मुख्यत: लुई ड्यूमोंट के अध्ययन से जुड़ा है, हिंदुत्व से संबंधित विश्वासों की व्याख्या में बड़ा उपयोगी रहा है। वह राजनीतिक और आर्थिक समस्याओं को समझने के लिए 'हितों' के अध्ययन को महत्वपूर्ण मानते हैं। उन्होंने तंजोर गांव में जाति का जो विश्लेषण किया है वह इस तरह के सरोकार का एक उत्कृष्ट उदाहरण है। योगेन्द्र सिंह ने अपने अध्ययन में परिवर्तन को समझने का प्रयत्न किया है जिसमें वर्गीय कारक जाति श्रेणियों के ढांचे के भीतर अपनी पहचान के नए बोध के साथ कार्य करते हैं। इस तरह की घटनाओं में जाति उल्लंघन भी होते हैं जो उन अंतर्विरोधों की तरफ हमारा ध्यान खींचते हैं जो पहले इतने स्पष्ट दिखाई नहीं देते थे।

संस्कृतिकरण का एम.एन. श्रीनिवासन का सिद्धांत जाति या वर्ण व्यवस्था में परिवर्तन एक इसी तरह का प्रभावी प्रक्रिया है। संस्कृतिकरण को हम उन विशेष संदर्भों में देख सकते हैं जिनमें यह होता है। दूसरा, हम इसे समग्र रूप में वर्ण व्यवस्था में परिवर्तन की एक ऐतिहासिक प्रक्रिया के रूप में भी देख सकते हैं।

सांस्कृतिक परिवर्तन की एक अन्य प्रक्रिया को श्रीनिवास 'पाश्चात्यकरण' कहते हैं। यह लोगों के मूल्यों, आदर्शों और सांस्कृतिक जड़ों में बदलाव लाता है। योगेन्द्र सिंह के अनुसार इन परिवर्तनों में 'ढांचागत परिवर्तनों' का अर्थ निहित है जो विशेषकर वर्ण व्यवस्था में और सामान्यतया भारतीय समाज में आ रहे हैं, जिन्हें क्रम परंपरा के विरुद्ध 'विद्रोह' कहा जा रहा है या फिर आधुनिकीकरण की प्रक्रिया में फंसा बताया जा रहा है।

3.3 ढांचागत परिवर्तन

भूमि सुधारों, शिक्षा के प्रसार, सामाजिक विधान, लोकतांत्रीकरण और नगरीकरण के रूप में ढांचागत परिवर्तन नजर आते हैं। इन परिवर्तनों का वर्ण व्यवस्था पर यह असर पड़ता है कि जातिगत संगठन जैसे अनुकूलन युक्तियां अक्सर सामाजिक लामबंदी की युक्ति बन जाती हैं। ये संगठन मुख्य रूप से अपने

सदस्यों की भौतिक और सांसारिक जरूरतों और लक्ष्यों की पूर्ति के लिए प्रत्यनशील रहते हैं। इस प्रक्रिया में ये संगठन अपने सदस्यों को अपनी वंचना और ढांचागत अवरोधों के बारे में और अधिक सजग बनाते हैं। ये संगठन अक्सर गैर-जातिगत कार्यों से ही सरोकार रखते हैं। मगर ये वर्ग नहीं हैं, क्योंकि इन संगठनों के सदस्य अनेक वर्ग स्थितियों से जुड़े लोग होते हैं। इनमें अंतर जातिगत अंतर्विरोधों को उठने नहीं दिया जाता है। इससे इनमें साझी वंचनाओं और वर्गीय चेतना की धारणा भी उत्पन्न हो सकती है।

3.3.1 आर्थिक संबंध

वर्ण व्यवस्था को आर्थिक संबंधों की व्यवस्था के रूप में भी देखा गया है। जोआंमेंचर के अनुसार जो लोग या जातियां इस वर्ण व्यवस्था में सबसे नीचे हैं उनके लिए वर्ण व्यवस्था ने शोषण और दमन के एक बड़े ही व्यवस्थित और प्रभावशाली अस्त्र के रूप में काम किया है। इस व्यवस्था का कार्य ऐसे वर्गों का निर्माण रोकना है जिनके हित साझे हों या लक्ष्य एक हो। मेंचर ने वर्ग को मार्क्सवादी अर्थ में लिया है और जाति संबंधों के विश्लेषण के लिए मार्क्सवादी मॉडल अपनाया है। इस तरह जाति परस्पर निर्भरता और लेन-देन की व्यवस्था के बजाए शोषण की व्यवस्था है। जाति स्तरीकरण ने "वर्ग द्वंद्व" या "सर्वहारा चेतना" को विकसित होने से रोकने का काम किया है। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि "जाति को चरम सामाजिक-आर्थिक भेदों को आंशिक रूप से ढक देने से ही मान्यता मिलती है।"

यहां पर गौर तलब बात यह है कि भारतीय समाज में स्तरीकरण की एक व्यवस्था के रूप में 'वर्ग' उस तरह से घिरे हुए नहीं मिलते जिस तरह से जातियां घिरी हैं। तिस पर वर्ण व्यवस्था ने जो भी "समस्याएं" खड़ी की हैं उनमें से अधिकांश की प्रकृति वर्गीय है जिनका संबंध आर्थिक वर्चस्व और पराधीनता, विशेषाधिकारों और वंचनाओं, स्पष्ट क्षति और महज जीवित बने रहने से है। ये समस्याएं अनिवार्यतः संपन्न और वंचितों की है। इन्हें हम ठेठ मार्क्सवादी अंदाज में मूर्त या ठोस समूहों में नहीं रख सकते क्योंकि यहां वर्गीय वैमनष्य, वर्गीय चेतना और वर्गीय एकता विद्यमान नहीं है। इसलिए भारत की स्थिति अन्य समाजों से इस मामले में भिन्न है कि इसकी समस्याएं 'वर्गीय' चरित्र की तो हैं मगर समाज के टुकड़ों के रूप में 'वर्ग' ठोस-सामाजिक-आर्थिक इकाइयों के रूप में मौजूद नहीं हैं।

3.3.2 सत्ताधिकार और प्रभावी जाति

आंद्रे बेटीली के अनुसार सत्ताधिकार एक प्रभावी जाति से दूसरी प्रभावी जाति के पास चला गया है। यही नहीं यह जाति के ढांचे से निकल कर अपेक्षाकृत अधिक विभेदित ढांचों जैसे पंचायतों और राजनीतिक दलों के पास चला गया है। मगर अपनी इस विवेचना में बेटीली इस अंतरण के परिणामों पर गौर नहीं कर पाए हैं। अब सवाल यह उठता है कि क्या हम जाति ढांचें में हो रहे बदलावों का अध्ययन इनके फलस्वरूप उभरे "अनुपाती न्याय" "समानता/असमानता" के नमूनों का विश्लेषण किए बिना कर सकते हैं? अगर हम एक समतावादी व्यवस्था के नियमों में नैसर्गिक रूप से विद्यमान लचीलेपन का विश्लेषण नहीं कर सकते तो हमारे लिए औपचारिक संस्थाओं और ढांचों के उदय को जाति क्षेत्रों से 'जाति-मुक्त' संरचनाओं के "अंतरण" के संकेतक के रूप में व्याख्या कर पाना मुश्किल होगा। यदि कोई जाति समग्र रूप से 'प्रभावी' नहीं है और "प्रभावी समूह" कई जातियों के परिवारों से मिलकर बना हो तो इसका यह मतलब नहीं कि असमानता की विकरालता में भारी कमी आ गई है।

3.4 जाति और वर्ग में गठजोड़

हम कह सकते हैं कि बदलाव असमानता के एक ढांचे से दूसरे ढांचे में होता है। पहले भी जाति की विशेषता भूमिकाओं के अंतर-जाति विभेदन के साथ-साथ जातियों के अंदर विभेदन रहा है। इसलिए विभेदन अनिवार्यतः जातिगत असमानताओं में कमी से नहीं जुड़ा रहता। भूमिकाओं का विभेदन नई असमानताओं को जन्म दे सकता है जो मौजूदा असमानताओं को और प्रबल बना सकता है। ऐसी स्थिति में वर्ण व्यवस्था या किसी भी व्यवस्था में सबसे नीचे के समूहों के लिए यह विभेदन दो-धारी तलवार बन जाता है। ग्रामीण समुदायों में नये ढांचे के उदय के फलस्वरूप अब एक ओर "सर्वहारा जमींदार" या भूस्वामी हैं तो दूसरी ओर नव-धनाढ्य, नव प्रभावशाली नव-जमींदारों का वर्ग नज़र आता है।

3.4.1 एककालिक विश्लेषण

जाति पर हुए अध्ययनों का एक लाभ यह रहा है कि इनसे 'फील्डवर्क' की एक परंपरा का सूत्रपात हुआ है। इनमें जाति को एक साम्यावस्थाकारी, समरस और सहमति-जन्य व्यवस्था के रूप में प्रस्तुत करने पर अधिक बल दिया गया है। परिवर्तन को अक्सर संबंधों में जैविक से खंडीय, संवृत से विवृत, समरस से असयरस में अंतरण के रूप में दर्शाया गया। लेकिन अनुभवजन्य प्रमाण हमें बताता है कि वर्ण व्यवस्था में परिवर्तन अनुकूलनधर्मी और विकासक्रमिक रहा है।

अभ्यास 1

एककालिक विश्लेषण की चर्चा अपने अध्ययन केन्द्र के सहपाठियों से कीजिए। इस चर्चा से आपको जो जानकारी मिलती है उसे अपनी नोटबुक में लिख लें।

वर्ण व्यवस्था में होने वाले परिवर्तनों का विश्लेषण हम असमानता और क्रम परंपरा के एक ढांचे से असमानता के दूसरे ढांचे में परिवर्तन से कर सकते हैं। वर्ण व्यवस्था में परिवर्तन की इस गुत्थी को समझने के लिए हमें किसी एक समाज के लोगों की "संयुक्त स्थिति" का विश्लेषण 'परिवार' या 'व्यक्ति' या दोनों को विश्लेषण की इकाई मानकर करना होगा। इस तरह का मार्ग अपनाने के लिए जरूरी है कि हम जाति को एक गतिशील या प्रक्रिया मानें। इसके बाद हमें परिवर्तन की प्रक्रिया को समझने के लिए एक कार्यपद्धति की जरूरत पड़ती है। इसी संदर्भ में हम अब जाति-वर्ग गठजोड़ के बारे में चर्चा करेंगे।

जाति और वर्ग पर बहस संकीर्ण वैचारिक दृष्टिकोणों के दायरे में सिमटी रही है। 'जाति-मॉडल' के परिप्रेक्ष्य के अनुसार जाति एक अतिव्यापी वैचारिक व्यवस्था है जो सामाजिक जीवन, विशेष रूप से हिन्दुओं और साधारणतया अन्य सम्प्रदायों के जीवन के सभी पहलुओं को अपने में समेटे रहती है। इस तरह के दृष्टिकोण का एक निहितार्थ यह है कि जाति मूल रूप से भारतीय समाज के आंतरिक ढांचे का ही एक अंग है। इसलिए व्यवसाय, श्रम का विभाजन, विवाह के नियम, अंतर्वैयक्तिक (व्यक्तियों में परस्पर) संबंध बाहरी ढांचे के घटक हैं जो जाति की विचारधारा के पुनर्सृजन को अभिव्यक्त करते हैं।

3.4.2 नियामक व्यवस्था के रूप में जाति

इसके बाद हम यह प्रश्न पूछ सकते हैं कि जाति किस प्रकार एक नियामक व्यवस्था है? जाति कुछ निश्चित कार्यक्षेत्रों में अपने नियामक वर्जनाओं से क्यों चिपकी रहती है जबकि अन्य कार्य क्षेत्रों में जाति समूह और उनके सदस्य ऐसे क्रिया-कलाप अपना लेते हैं जो वर्ण व्यवस्था की पारंपरिक वर्जनाओं से बिल्कुल हटकर हैं? यह गौरतलब है कि एक जाति के सदस्य एक-दूसरे से स्पर्धा तो करते हैं मगर साथ ही वे परस्पर सहयोग भी करते हैं। जाति के भीतर वर्ग आधारित विभेद हमेशा प्रमुखता से मौजूद रहे हैं। उदाहरण के लिए किसी गांव में एक जाति के सदस्य कभी-कभी भारतीय वर्ग विभाजन का प्रतिनिधित्व करते पाए जाते हैं क्योंकि विवाह के संगत नियमों का पालन करते हुए वे असल में संगत सौदेबाजी को वर्गीय-स्थिति की धुरी के अनुरूप परिभाषित करते हैं। जाति सिद्धांत और व्यवहार दोनों में असमानता की ओर संकेत करता है। अपनी कालजयी कृति *होमो हायरार्किकस* में ड्यूमोंट वर्ण व्यवस्था पर आधारित असमानता को एक विशेष प्रकार की असमानता का दर्जा देते हैं। उनके अनुसार शुद्धि और अशुद्धि की विचारधारा जाति को समझने की कुंजी है। यह भारत में क्रम-परंपरा का सबसे बुनियादी आधार है। उन्होंने नृजातिवृत्त और वैचारिक वर्णनों के आधार पर वर्ण-व्यवस्था के "आदर्श प्रारूप" का विश्लेषण किया।

टी.एन. मदान क्रम परंपरा के बारे में ड्यूमोंट के इस दृष्टिकोण को उचित ठहराते हैं कि वह एक भौमिक आवश्यकता है। उनका मत है कि भारतीय समाज काफी हद तक गतिहीन और स्थिर रहा है। समाज में परिवर्तन अवश्य हुए हैं मगर आमूल परिवर्तन कभी नहीं आ पाया है।
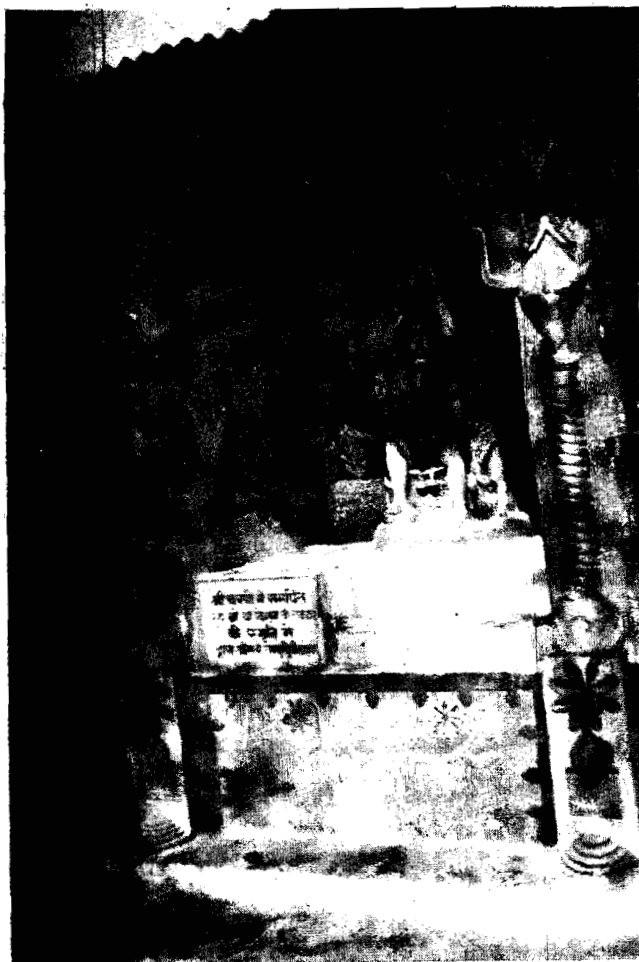
हिन्दू मन्दिरों में अब सभी जातियों के लोग पूजा कर सकते हैं
साभार : टी कपूर

3.4.3 अनुभवजन्य वास्तविकता के रूप में जाति

एक अनुभवजन्य वास्तविकता के रूप में वर्ण व्यवस्था को समझने का आधार जाति-समूहों, जैसे जाति को विशेष ग्रामीण/शहरी संदर्भ में देखना है। यह समाज में स्थान और पहचान का एक स्रोत है। मगर पहचान रोजाना के अनौपचारिक संबंधों का प्रकार्य नहीं है। उदाहरण के लिए अमूमन जाति एक तमिल ब्राह्मण और उत्तर प्रदेश के कान्य-कुब्ज ब्राह्मण के बीच विवाह का आधार नहीं बनती। मगर उनमें यह एहसास हो सकता है कि वे एक ही वंश से जुड़े हैं और संकट और चुनौती की घड़ियों में एक-दूसरे से सहयोग भी कर सकते हैं। इसलिए, कोई यह पूछ सकता है कि क्या जाति एक हित समूह है? क्या साझे हित विभिन्न क्षेत्रों के विभिन्न जातियों के लोगों को एक जाति के लोगों के बनिस्वत अधिक सहजता से एक दूसरे के समीप ला सकते हैं? इसमें कोई संदेह नहीं कि जाति एक संसाधन है, मगर इस संसाधन की प्रकृति जाति के अनुसार बदल जाती है। एक जाति विशेष की हैसियत उसकी स्थिति पर निर्भर करती है जो उसे एक क्षेत्र विशेष में प्राप्त है। आज सवर्ण और मझोली जातियों के लिए जाति पहचान/सदस्यता बोझ बन गई है क्योंकि सरकारी नौकरियों, संसद और विधानसभाओं के साथ-साथ उच्च-शिक्षण संस्थानों में प्रवेश का एक खास प्रतिशत अनुसूचित जातियों/जनजातियों और अन्य पिछड़ी जातियों के लिए आरक्षित कर दिया गया है।

यह दृष्टिकोण कि जाति और वर्ग विचारधारा से एक-दूसरे के विलोम हैं, सही नहीं है। यह मान लेना कि जाति के नष्ट हो जाने पर वर्ग एक सामाजिक वास्तविकता के रूप में उभर सकता है, दोनों के बीच में जो संबंध है उसे गलत समझना होगा। दोनों ही भारत की सामाजिक संरचना के अविभाज्य अंग रहे हैं। इसलिए दोनों के गठजोड़, उसकी निरंतरता और उसमें आने वाले परिवर्तन का अध्ययन जरूरी है।

जाति एक अति जटिल व्यवस्था है क्योंकि यह सत्ताधिकार या शक्ति संबंधों और आर्थिक क्रिया-कलापों की एक पद्धति भर नहीं है। अगर यह एक पहलू से कमजोर पड़ती है तो वहीं यह दूसरे पक्ष से शक्तिशाली

बन जाती है। निस्संदेह इस प्रक्रिया में कुछ परिवर्तन, परिवर्धन और सहवर्धन अवश्य होते हैं। हमें इस व्यवस्था की गतिशीलता को गंभीरता से विश्लेषण करने की आवश्यकता है। आखिरकार अनुष्ठानों, शुद्धि-अशुद्धि और सामाजिक-जीवन के अन्य अभौतिक पहलुओं का आधार वर्ग ही है। उदाहरण के लिए, जाट सभा जैसा संगठन सिर्फ एक जातिगत संगठन नहीं है बल्कि असल में यह ग्रामीण किसानों का एक संगठन है। इसी तरह किसान सभा भी ग्रामीण किसानों का संगठन भर नहीं है बल्कि यह खेती-बाड़ी के पेशे में लगी कृषक जातियों विशेषकर उत्तरी भारत में जाटों और अन्य राज्यों की ऐसी ही जातियों का संघ है।

बोध प्रश्न 1

1) सत्ताधिकार और प्रभावी जाति पर पांच पंक्तियों में एक टिप्पणी लिखिए।

....

....

....

....

....

2) अनुभवजन्य वास्तविकता के रूप में जाति के बारे में चर्चा कीजिए। अपना उत्तर पांच पंक्तियों में दीजिए।

....

....

....

....

....

जाति को मुख्यतः एक ग्रामीण परिघटना और वर्ग को नगरों और कस्बों की वास्तविकता मानना कोरा मिथक है। आइए अपनी इस बात की पुष्टि के लिए हम जयपुर शहर में होने वाले जाति चुनावों पर दृष्टि डालते हैं।

3.5 जाति चुनाव

कोई पंद्रह वर्ष पहले जयपुर के बीच में स्थित स्टेशन रोड़ पर खंडेलवाल वैश्य महासभा के वार्षिक चुनाव हुए। इस चुनाव में सैकड़ों कारें, जीपें, ऑटोरिक्शा और स्कूटर-मोटरसाइकिल लगे हुए थे। सड़क के दोनों तरफ चुनाव के लिए लगभग 60 स्टॉल लगे थे। इस सड़क पर आने-जाने वाले यातायात को दूसरे मार्ग पर मोड़ दिया गया और स्थिति को नियंत्रण में रखने के लिए पुलिस बंदोबस्त भी किया गया था। यह सिर्फ जातिवाद का प्रदर्शन ही नहीं था, बल्कि इसमें जाति की अंदर की गुटबाजी भी खूब देखने में आई। लेकिन इस चुनाव में हजारों रुपये खर्च करके चुने जाने वाले लोगों को आखिर क्या हासिल होना था? इस प्रश्न का उत्तर ढूंढने के लिए हमें गंभीर विश्लेषण करना होगा कि जाति और वर्ग किस प्रकार परस्पर काम करते हैं।

बॉक्स 3.02

सही अर्थों में जाति ढांचे का कोई समरूप पैटर्न पूरे भारत में नहीं मिलता। भारत में हजारों जातियां हैं जिनके नाम-उपनाम अलग-अलग हैं। लेकिन पूरे देश में सिर्फ पांच या छह वर्ग हैं। यहां यह याद रखना जरूरी है कि भारतीय समाज में सामाजिक विभाजन के स्पष्ट रूप से ये भिन्न आधार वास्तव में एक दूसरे से ज्यादा भिन्न नहीं हैं। भारत में अनेक मध्यम वर्ग हैं जिनका उत्पादन प्रक्रियाओं से कोई संबंध नहीं है, बल्कि ये आधुनिक भारतीय राज्य उपकरण की उपज हैं।

भारत में वर्ग संघर्ष असल में जाति संघर्ष और जाति संघर्ष वर्ग संघर्ष है। इन दोनों को अलग करना व्यर्थ और यांत्रिक होगा। इस विधि-वैज्ञानिक तर्क, कि दोनों विशिष्ट और भिन्न हैं क्योंकि दोनों का संबंध क्रमशः "सामाजिक" और "आर्थिक वास्तविकताओं" से है, इसको भी स्वीकार नहीं किया जा सकता है। इसका कारण यह है कि इस बात की पुष्टि के लिए पर्याप्त प्रमाण मौजूद नहीं हैं कि ये दोनों एकदम अलग हैं।

यह दृष्टिकोण भारत के सामाजिक संरचना के अध्ययन के लिए जाति-वर्ग गठजोड़ पर केन्द्रित है। इसमें सामाजिक ढांचे, संस्कृति, इतिहास और द्वंद्वात्मकता को सामाजिक स्तर के ऊपरी हिस्सों और हाशिये पर रहने वाले समुदायों दोनों तरफ से समझने और उनका विश्लेषण करने पर बल दिया गया है।

गठजोड़ से यह मतलब नहीं कि जाति और वर्ग में तदनुरूपता या सममिति विद्यमान रहती है। परस्पर निर्भरता, अंतर्विरोध, सममिति और वर्चस्व इस गठजोड़ की अभिन्न विशेषताएं हैं। आंद्रे बेटीली बताते हैं कि गांव में जाति और सत्ताधिकार की क्रम-परंपराएं कुछ हद तक अतिव्यापन करती हैं मगर साथ में वे एक दूसरे की काट भी करती हैं।

बेटीली कहते हैं कि सामाजिक जीवन में कई क्षेत्र अब कुछ हद तक "जाति-मुक्त" हो रहे हैं। ब्राह्मणवादी परंपरा के अलावा भारतीय समाज में योद्धा राजपूतों की परंपरा, भारतीय दस्तकारों, व्यापारियों की परंपराएं, वर्गीय और सांस्कृतिक परंपराएं साथ-साथ विद्यमान थीं।

हमें यह स्वींकार करना होगा कि भारतीय समाज के बहु-आयामी होने और जाति व्यवस्था के कारण जाति की सटीक परिभाषा बेहद जटिल है। जाति के ढांचागत पहलू की यह कहकर व्याख्या की जाती है कि यह स्तरीकरण का एक सामान्य सिद्धांत है। एक सांस्कृतिक व्यवस्था के रूप में जाति को शुद्धि और अशुद्धि की विचारधारा की प्रधानता और क्रम परंपरा, पृथककरण और सम्मिलनशीलता की धारणाओं के संदर्भ में समझा जाता है।

एफ. जी. बेली जाति को स्तरीकरण की एक संवश्त (बंद) प्रणाली कहते हैं जबकि बेटीली वर्ण-व्यवस्थी के पहलुओं को 'संवश्त' और 'विवश्त' दोनों रूपों में देखते हैं। बेली के अनुसार जाति ज्यादा खंडीय होती जा रही है जिसका कारण भारत में विभेदित ढ्रांचों का उदय है। विश्लेषण में इन भिन्नताओं के चलते जाति की एक साझी परिभाषा विकसित नहीं हो पाई है।

3.5.1 जाति और गतिशीलता

जाति हालांकि वास्तव में ज्यादा लचीली व्यवस्था नहीं है, मगर यह अपने सदस्यों को कुछ निश्चित क्षेत्रों में गतिशीलता की अनुमति देती है। कोई जाति अंतरजातीय निर्भरता के मामले में वर्ण-व्यवस्था के नियमों से संचालित होती है। मगर वहीं दूसरी जाति को अपनी प्रथाओं, अनुष्ठानों और अधिकारों का पालन करने में अन्य जातियों के सापेक्ष स्वतंत्रता भी प्राप्त होती है।

श्रीनिवास के अनुसार कृषि उत्पादन के लिए आज भी कई जातियों के परस्पर सहयोग की उतनी ही आवश्यकता पड़ती है। जाति मुहावरे का चलन बड़ा व्यापक है। मार्क्स ने उत्पादन की एशियाई विधि को भारत में वर्ण-व्यवस्था की स्थिरता से जोड़ कर देखा था। उधर, बेटीली भारतीय समाज के "जाति-दर्शन" को प्रचारित करने के लिए ड्यूमोंट को विशेष रूप से दोषी ठहराते हैं। उनके अनुसार, इस तरह का 'जाति मॉडल' विचारों और मूल्यों के अध्ययन में भौतिक हितों का कोई विश्लेषण नहीं देता। दोनों के बीच एक द्वंद्वात्मक संबंध है। मगर ड्यूमोंट और पोकॉक की 'दोहरस विरोध' की धारणा 'द्वंद्वात्मकता' की उस धारणा से कोई मेल नहीं खाती जो मार्क्स ने दी थी। बेटीली यह भी कहते हैं कि आर्थिक और राजनीतिक द्वंद्व तो होते हैं मगर वे निश्चित सीमा तक अपनी स्वतंत्रता लिए रहते हैं। इसलिए इनका अध्ययन जाति और धार्मिक विश्वासों और विचारों से स्वतंत्र रहकर किया जा सकता है। जाति मॉडल में इस तरह के वैकल्पिक समझ का कोई मार्ग नहीं है।

एडमंड लीच का सहयोग को जाति और स्पर्धा को वर्ग कहना भी बचकाना और अविश्वसनीय है। प्रभावी जातियों के परिवारों में अपने आधिपत्य को बनाए रखने के लिए निम्न जातियों के संरक्षण देने की आपस में न सिर्फ होड़ रहती है बल्कि निम्न जातियां भी इन परिवारों का कृपापात्र बनने की होड़ में लगी रहती हैं। इस तरह की स्पर्धा कोई नई बात नहीं है। प्राचीन और मध्ययुगीन भारत में क्षत्रियों और ब्राह्मणों में अपने-अपने क्षेत्राधिकार के विरोधी दावों के कारण युद्ध भी होते थे। लीच का यह मत, कि जाति सिर्फ एक 'जाति' थी और 'वर्ग' जैसी स्थिति तभी उभरी जब संरक्षक लोग परस्पर होड़ करने लगे, इस ऐतिहासिक वास्तविकता को नजरअंदाज कर देता है कि समाज में अंतरजातीय संघर्ष और ऊंची जातियों के विरुद्ध निम्न जातियों के विद्रोह होते रहे हैं।

3.6 वर्ग की व्याख्या

वर्ग और वर्ग द्वंद्व की मार्क्सवादी धारणाओं की छाप हमें भारतीय कृषि और शहरी औद्योगिक ढांचों के अध्ययनों में मिलती है। मार्क्स (1951) ने भारत पर लिखे दो लेखों में जाति और ग्रामीण समुदाय के पारंपरिक लोकाचार का विवेचन किया था। शुरू में मार्क्स (1947) का मानना था कि एशियाई उत्पादन विधि में भूमि के रूप में निजी संपत्ति नहीं है और जाति, कृषि और ग्रामीण हस्तशिल्पों में एक खास गठबंधन के कारण अर्थव्यवस्था जड़ है मगर सी.टी. कूरियन का मानना है कि एशियाई विधि का विश्लेषण वर्गीय अंतर्विरोधों और वर्गीय ढांचों की भूमिका को नकारता नहीं है। भारत की पूर्व-पूंजीवादी आर्थिक संरचना जाति और वर्ग पर आधारित थी जो पास-पास थे।

वर्ग पर चर्चा करने के लिए दो प्रश्न यहां प्रासंगिक हैं: (1) भारतीय समाज में वर्गीय संरचना के विश्लेषण के लिए हम कौन सी विधि प्रयोग कर सकते हैं? और (2) वर्ग-जाति गठजोड़ क्या है, प्रत्येक क्षेत्र में इसके फलितार्थ और अंतर्संबंध क्या हैं? इन प्रश्नों पर चर्चा करने के पीछे हमारा आशय मार्क्सवादी नजरिए को स्वीकारना या नकारना नहीं है; बल्कि यह देखना है कि यह हमें क्या उपयोगी अंतदृष्टि प्रदान कर सकता है।

भारत में कृषि पर निर्भर जनसंख्या की वर्गीय संरचना का विश्लेषण करते हुए अशोक रुद्र कहते हैं कि भारती कृषि में सिर्फ दो वर्ग हैं–बड़े जमींदार और खेतीहर मजदूर। इन दोनों वर्गों में वैमनष्यपूर्ण संबंध हैं और भारतीय ग्रामीण समाज का यही सबसे प्रमुख अंतर्विरोध है। ए.आर. देसाई की भी यही धारणा है।

बॉक्स 3.03

रुद्र जोरदार ढंग से तर्क देते हैं कि भारतीय कृषि में पूंजीवादी संबंध और पूंजीवादी विकास है। इसलिए इसमें दो वर्ग हैं- संपन्न और निर्धन। भारत में राज्य ने अपने विकास की रणनीति के रूप में पूंजीवादी समाज के नियम अपना लिए हैं। इस सिद्धांत का एक निहितार्थ यह है कि जो संदर्भ आधार अभी तक पूरे विश्व के लिए लागू होता था वह अब भारतीय समाज के लिए भी लागू होगा। इसका दूसरा निष्कर्ष यह है कि भारतीय समाज के विश्लेषण के लिए सबसे प्रभावी कारक सभी स्थितियों और संदर्भों में आर्थिक है।

वी.एम. दांडेकर कहते हैं कि भारत में वेतनभोगियों द्वारा हड़ताल सामान्य बात है। इनमें दो सौ रुपये से लेकर कई हज़ार का वेतन पाने वाले श्रमिक शामिल हैं। इसलिए वेतन-भोगी मज़दूरों को एक विषामांगी श्रेणी के रूप में देखा जाना चाहिए।

इस तरह भारत की कुल श्रमशक्ति का तीन-चौथाई हिस्सा मार्क्सवाद की कसौटी से बाहर छूट जाता है। एक कल्याणकारी राज्य होने के कारण भारतीय राज्य आज सबसे बड़ा नियोक्ता, सबसे बड़ा रोजगार देने वाला है। क्या भारतीय राज्य किसी उद्योगपति या मजदूरों के नियोक्ता की तरह एक पूंजीवादी, शोषक और दमनकारी ऐजेंसी है? लगभग एक करोड़ कामगार छोटे उद्योगों और पारिवारिक-स्वामित्व वाले उद्यमों में कार्यरत हैं। इन उद्योगों का सामना वर्ग-वैमनष्य और हड़तालों से कभी नहीं होता। संगठित श्रमिकों की संख्या कुल श्रमशक्ति का मात्र नौवां भाग भर है। ऐसी स्थिति में क्या हम मार्क्सवादी नजरिए को स्वीकार

कर सकते हैं? वर्ग, जाति और व्यवसाय का अतिव्यापन, अभिजात वर्ग के द्वंद्व, पैरोकार समूह और गुट, मध्यम वर्गों का प्रभाव और "मिश्र वर्गों" और 'भद्र किसानों' की उपस्थिति, इन सब कारकों को भारत के वर्गीय ढांचे के गंभीर विश्लेषण के लिए ध्यान में रखा जाना चाहिए। जजमानी प्रथा की व्याख्या भी हम वर्ग संबंधों और उत्पादन विधि के परिप्रेक्ष्य में दे सकते हैं। आइए, अब हम जाति क्रम परंपरा और व्यवसाय पर नजर डालते हैं।

3.7 जाति-क्रम-परंपरा और वर्ग-संघर्ष

भारत में कई वर्षों से दलितों पर आक्रमण किए जा रहे हैं, उनकी हत्या की जा रही है, उनकी महिलाओं के साथ बलात्कार किया जा रहा है और उन्हें तरह-तरह के अत्याचारों और अपमान का निशाना बनाया जा रहा है। अरुण सिन्हा कहते हैं कि यह अत्याचार छिट-पुट घटनाएं नहीं बल्कि हरिजनों के विरुद्ध छेड़ा गया *'वर्ग युद्ध'* है। *इकोनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली* में प्रकाशित एक लेख में सिन्हा कहते हैं, "बिहार के गांवों में धनाढ्य कृषक वर्ग के उदय ने चमार, दुसाध, कुर्मी, यादव, भूमिहार इत्यादि सभी जातियों के खेतिहार मजदूरों को अपने जातिगत संगठनों को त्यागकर मजदूर संघों की तरह लड़ने के लिए विवश कर दिया है।" इसे *'वर्ग संघर्ष'* कहा जाना चाहिए, जिसमें जातिगत मतभेदों को भुला दिया गया है। लेकिन वास्तविकता यह है कि हरिजन या चमार खेतिहार मजदूर को भूमिहार या ब्राह्मण मजदूर के समकक्ष सिर्फ इसलिए खड़ा नहीं किया जा सकता है कि दोनों का स्थान वर्गीय ढांचे में एक ही है।

स्वतंत्र भारत की वास्तविक स्थिति यह है कि पिछड़ी जातियों का धनाढ्य कृषक वर्ग आज वर्ग क्रम परंपरा के शीर्ष पर काबिज है। यह वही वर्ग है जो सवर्ण जातियों के सामाजिक और राजनीतिक वर्चस्व के खिलाफ संघर्ष कर रहा है।

बोध प्रश्न 2

1) वर्ग को सामाजिक परिघटना के रूप में पांच पंक्तियों में स्पष्ट कीजिए।

....

....

....

....

....

2) जाति क्रम परंपरा और वर्ग संघर्ष के बारे में पांच पंक्तियां लिखिए।

....

....

....

....

....

गौर तलब है कि जनता पार्टी के शासन में बिहार में वर्चस्व के ढांचे में एक परिवर्तन आया जिससे राज्य की राजनीतिक अर्थव्यवस्था के दूरगामी परिणाम निकले। इस दौरान ब्राह्मणों का वर्चस्व काफी हद तक कम हुआ।

3.7.1 हिंसा और शोषण

अत्याचार विरोधी समिति (1979) के मुताबिक बेल्ची, आगरा, पंतनगर, मराठवाड़ा और बाजितपुर समेत अनेक जगहों पर अनुसूचित जाति के लोगों की हत्या, लूट और उनकी महिलाओं के साथ बलात्कार की

घटनाएं वर्ग संघर्ष और वर्ग संगठनों की तुलना में वर्ण व्यवस्था की भूमिका को दर्शाते हैं। समिति ने महाराष्ट्र में अनुसूचित जातियों के उत्पीड़न की प्रकृति और उसकी व्यापकता की जांच पड़ताल की थी। अनुसूचित जातियों के लोग ही गरीब किसान और खेतिहर मजदूर थे। समिति ने अपनी रिपोर्ट में निर्धन ग्रामीण महिलाओं विशेषकर दलित महिलाओं के यौन और आर्थिक दोनों प्रकार के शोषण और उत्पीड़न को उजागर किया था। समिति ने अपनी जांच के दौरान जो पाया और उससे जो निष्कर्ष निकाले वे बड़े ही महत्वपूर्ण और उपयोगी हैं क्योंकि इनसे यह पता चलता है कि जाति को उत्पादन संबंधों की ही व्यवस्था के रूप में समझा जाता है। उधर, बिहार में रणबीर सेना और एक चरमपंथी वाम गुट के बीच छिड़े संघर्ष के चलते निम्न जाति के निर्धनों और ऊंची जाति के भूमिहारों के बीच नरसंहार प्रति-नरसंहार हो रहे हैं। यहां निम्न महत्वपूर्ण बातें ध्यान में रखी जानी चाहिए:

i) वर्ण व्यवस्था आर्थिक शोषण की एक बेहद प्रभावशाली विधि के रूप में काम करती है। प्रभावी जाति राजनीतिक सत्ताधिकार और सामाजिक प्रतिष्ठा भी अर्जित कर लेती है जो जाति क्रम परंपरा और स्वामित्व को दर्शाती है। आर्थिक क्रम-परंपरा का सामाजिक क्रम-परंपरा से गहरा संबंध है।

ii) विशेषकर ग्रामीण क्षेत्रों में जाति उत्पादन के साधनों और जीवन निर्वाह से निश्चित संबंधों को तय करती है। जातिगत संघर्ष या दंगे वर्ग हितों को दर्शाते हैं।

iii) जाति उत्पादन संबंधों को भी परिभाषित करती है क्योंकि यही जन समूहों और व्यक्तियों के उत्पादन के साधनों और संसाधनों तक पहुंच को संचालित करती है और राजनीतिक-आनुष्ठानिक क्रिया-कलापों के लिए सामाजिक आधार प्रदान करती है।

iv) भीमराव आंम्बेडकर ने सही कहा था कि वर्ण व्यवस्था सिर्फ श्रम का ही विभाजन नहीं है, बल्कि यह श्रमिकों का विभाजन भी है। जाति श्रमिकों को एक वर्ग के रूप उभरने से रोकती है। इसलिए जाति को "झूठी चेतना" की तरह एक विचारधारा के रूप में लिया जाना चाहिए। यह देखने में आया है कि जाति और वर्ग दोनों की दलित पहचान और आंदोलन के उदय में बड़ी महत्वपूर्ण भूमिका रही है।

v) जाति और धर्म को एक विशेष वर्गीय ढांचे को दृढ़ बनाने में प्रयोग किया जाता है।

vi) जाति सामंती विचारधारा के रूप में कायम रहती है।

अभ्यास 2

ऊपर जो बिंदु (i)-(vi) दिए गए हैं उनकी रोशनी में मौजूदा वर्ण व्यवस्था पर अपने सहपाठियों के साथ चर्चा कीजिए और नोटबुक में उसके निष्कर्ष लिखिए।

अत्याचार विरोधी समिति कहती है कि "जाति भारतीय समाज एक सबसे महत्वपूर्ण पहलू है। यह उत्पादन संबंधों के स्तर पर एक विशेष प्रकार के उत्पीड़न को दर्शाता है।" ऐसा कहना कि मुद्दे सिर्फ वर्गीय हैं और जाति से जुड़े प्रश्न हैं ही नहीं, कोरी बकवास है। क्योंकि शुद्धत: "आर्थिक" वर्ग से परे जाति विभाजन आज भी कायम हैं। इसलिए जाति के प्रश्नों से जुड़े मुद्दों को सभी प्रगतिशील लोगों, वामपंथियों, दलितों और गैर-दलितों और संगठनों को उठाना चाहिए। आज के भारतीय समाज की वास्तविकता यही है कि इसमें वर्गीय हित जाति उत्पीड़न और वर्गीय शोषण के साथ-साथ उभर रहे हैं।

3.8 सारांश

जाति के ढांचागत पहलुओं विशेषकर इसके आर्थिक और राजनीतिक आयामों को अभी तक कम करके आंका गया है। इसलिए सामाजिक स्तरीकरण के सांस्कृतिक पहलुओं के विश्लेषण से हमें भारत के सामाजिक ढांचे की गहरी जानकारी मिल सकती है दोनों क्योंकि एक दूसरे से अभिन्न हैं। जैसा कि हमने बताया, है वर्ग जाति के परिप्रेक्ष्य में ही काम करते हैं और जाति संघर्ष वर्ग या किसान संघर्ष भी है। ऊंची और निम्न जातियों के बीच विभाजन और टकराव काफी हद तक भूस्वामियों और बटाईदारों या खेतिहर मजदूरों के बीच होने वाले संघर्षों के रंग में ही होते हैं।

जाति और वर्ग संबंधों और उनके रूपांतर को समझने के लिए चार बुनियादी बातें ध्यान में रखी जानी चाहिए। ये हैं: (i) द्वंद्वात्मकता (ii) इतिहास, (iii) संस्कृति और (iv) संरचना।

द्वंद्वात्मकता समाज के संज्ञानात्मक ढांचे में विभाजन को ही नहीं कहते हैं। द्वंद्वात्मकता उन प्रभावशाली धारणाओं को कहते हैं, जो अंतर्विरोध उत्पन्न करते हैं। यह समाज के असमान टुकड़ों और महिला और पुरुष के बीच संबंधों को उजागर करता है। इतिहास किंवदंतियों, शास्त्रों और आदर्शवादी रचनाओं पर आधारित अनुमान नहीं होता, बल्कि यह मौजूदा कार्य स्थिति और संबंधों का महत्वपूर्ण दस्तावेज होता है। इसी प्रकार संस्कृति में सिर्फ सांस्कृतिक प्रथाएं, अनुष्ठान, मृत्यु कर्मकांड इत्यादि ही शामिल नहीं होते, बल्कि खेल के नियमों, संपन्न, विशेषाधिकार प्राप्त लोगों और वंचितों के संबंधों की प्रकृति और प्रतिरोध या सहमति की विधियों-रीतियों को परिभाषित करता है। सामाजिक ढांचा निस्संदेह द्वंद्वात्मक अंतर्विरोधों, ऐतिहासिक शक्तियों और खेल के नियमों की उपज है। मगर यह उभरता है तो यह 'संघटन' बन जाता है और फिर यह भी इतिहास की धारा को तय करने वाली एक तरह की शक्ति बन जाता है। इस तरह सामाजिक ढांचा एक निश्चित काल में समाज के विभिन्न खंडों के बीच संबंध ही नहीं है बल्कि उससे कहीं ज्यादा यह एक ऐतिहासिक उत्पाद और वास्तविकता है। इन तत्वों को संरचनात्मक-ऐतिहासिक दृष्टिकोण के केन्द्र में रखकर हम जाति और वर्गीय ढांचे में होने वाले बदलावों को "रचनांतरण प्रक्रिया" मान सकते हैं।

उपरोक्त निदर्शनात्मक व्याखाओं से ढांचागत परिवर्तन की जो प्रक्रियाएं निकलती हैं उन्हें हम इस प्रकार नोट कर सकते हैं:

i) अधोगामी गतिशीलता और सर्वहाराकरण

ii) ऊर्ध्वगामी गतिशीलता और बुर्जुआकरण

iii) ग्रामीण लोगों के लिए शहरी आमदनी और गांव में गतिशीलता

iv) ग्रामीण गैर-कृषि आमदनी और गतिशीलता।

अगर हमें भारत में जाति और वर्ग को पूरी तरह से समझना है तो इन्हीं विषयवस्तुओं पर अधिक ध्यान देना होगा।

3.9 शब्दावली

जाति : एक प्रदत्त समूह, जिसकी अखिल भारतीय वर्ण योजना के प्रति आस्था समेत कई विशेषताएं हैं।

एककालिक : घटना या विश्लेषण जो किसी अन्य घटना या विश्लेषण के साथ-साथ हो या किया जाए।

3.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

बेटीली, आंद्रे, 1965, *कास्ट, क्लास ऐंड पॉवर*, बंबई, ऑक्सफर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस

घुरये, जी.एस., *कास्ट, क्लास ऐंड ऑक्यूपेशन*, बंबई, पॉपुलर बुक डिपो, इससे पूर्व यह पुस्तक *कास्ट, ऐंड रेस और कास्ट ऐंड क्लास* शीर्षक के तहत छपी थी।

सिंह, योगेन्द्र, 1973, *मॉडर्नाइजेशन ऑफ इंडियन ट्रेडिशन*, थॉमसन प्रेस (इंडिया) लि., फरीदाबाद।

श्रीनिवास, एम.एन., 1966, *सोशल चेंज इन मॉडर्न इंडिया*, बर्कले, कैलीफोर्निया यूनिवर्सिटी प्रेस।

3.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) बेटीली का मानना है कि सत्ताधिकार एक प्रभावी जाति से दूसरी प्रभावी जाति को अंतरण होता है। सत्ताधिकार अब अपेक्षतया अधिक विभेदी संरचनाओं में निहित है। जैसे, पंचायत और राजनीतिक दल। के.एल. शर्मा के अनुसार परिवर्तन असमानता के एक ढांचे से दूसरे ढांचे में हुआ है।

2) अनुभवजन्य वास्तविकता के रूप में वर्ण व्यवस्था को समझने के लिए हमें जाति जैसे वर्ण समूहों को ग्रामीण/शहरी संदर्भ विशेष में रखना होगा। यह समाज में स्थान उत्पन्न करता है और पहचान प्रदान करता है। पहचान रोजमर्रा के पारस्परिक-व्यवहार का कार्य नहीं है। इसलिए हो सकता है कि दो जाति समूह परस्पर विवाह नहीं रचाएं मगर उनमें एक ही वंश से जुड़े होने का एहसास हो सकता है और वे संकट और चुनौतीपूर्ण स्थितियों में परस्पर सहयोग कर सकते हैं।

बोध प्रश्न 2

1) भारत की कृषि और शहरी औद्योगिक संरचनाओं के अध्ययन के लिए मार्क्सवादी धारणा को बड़े पैमाने पर प्रयोग किया गया है। यह कहा गया है कि भारत की पूर्व-पूंजीवादी संरचना जाति और वर्ग दोनों पर आधारित है। रुद्र और दांडेकर सहित विभिन्न लेखकों ने कृषि के अपने विश्लेषणों में वर्ग को प्रयोग किया है।

2) ऐसा पाया गया है कि जाति क्रम परंपरा के निचले स्तर के लोगों पर बड़े ही व्यवस्थित ढंग से हमला किया गया है। सिन्हा को यह 'वर्ग युद्ध' लगता है न कि संयोग से होने वाले अत्याचार। स्वतंत्र भारत में वास्तविक स्थिति यह है कि पिछड़ी जातियों के धनाढ्य कृषकों का एक वर्ग ग्रामीण वर्ग क्रम परंपरा के शीर्ष पर आ पहुंचा है। यही वर्ग ऊंची जातियों के सामाजिक और राजनीतिक वर्चस्व के विरुद्ध संघर्ष कर रहा है। जिसमें उसे कुछ सफलता भी हासिल हुई है।